२२. सूत्रकृतांग-१/१/१३-२१
२३. उत्तराध्ययन २३/३७ तुलनीय-कठोपनिषद् १/३/३
२४. समयसार-८१-९२
२५. क्रमशः निगोद और केवली समुद्घात की अवस्था में ऐसा होता है।
२६. विशेषावश्यकभाष्य- १५८२
२७. सांरख्यकारिका-१८(ईश्वरकृष्ण)
२८. समवायांग- १/१
स्थानांग- १/१
२९. भगवतीसूत्र- २/१
३०. समवायांग टीका १/१
३१. भगवतीसूत्र १/८/१०
३२. वही १२/१०/४६७
३३. वीतरागस्तोत्र- ८/२/३
३४. उत्तराध्ययनसूत्र- १४/१९
३५. भगवतीसूत्र- ९/६/३/८७
३६. वही ७/२/२७३
३७. वही ९/६/३८७; १/४/४२
३८. गीता- २/२२, तुलना करें थेरगाथा- १/३८-६८८.
३९. शंकर का आचार दर्शन, पृ० ६८
४०. Jaina Psychology. 173.
४१. तिलक गीता रहस्य- पृ० २६८.
४२. F.H. Bradley, Ethical Studies P. 313.
४३. गीता ६/४५.
४४. Studies in Jaina Philosophy. P. 221.
४५. Jaina Psychology P. 175.
४६. स्थानांगसूत्र- ८/२
४७. तत्त्वार्थसूत्र ८/११

षट्जीवनिकाय में त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण की समस्या

षट्जीवनिकाय की अवधारणा जैनधर्म-दर्शन की प्राचीनतम अवधारणा है। इसके उल्लेख हमें प्राचीनतम जैन आगमिक ग्रन्थों यथा— आचारांग[1], ऋषिभाषित[2], उत्तराध्ययन[3], दशवैकालिक[4] आदि में उपलब्ध होते हैं। यह सुस्पष्ट तथ्य है कि निर्ग्रन्थ परम्परा में प्राचीनकाल से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि को जीवन युक्त माना जाता रहा है। यद्यपि वनस्पति और द्वींद्रिय आदि प्राणियों में जीवन की सत्ता तो सभी मानते हैं, किन्तु पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु भी सजीव हैं— यह अवधारणा जैनों की अपनी विशिष्ट अवधारणा है। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पृथ्वी, जल, वायु आदि में सूक्ष्म जीवों की उपस्थिति को स्वीकार करना एक अलग तथ्य है और पृथ्वी, जल आदि को स्वतः सजीव मानना एक अन्य अवधारणा है। जैन परम्परा केवल इतना ही नहीं मानती है कि पृथ्वी, जल आदि में जीव होते हैं अपितु वह यह भी मानती है कि ये स्वयं भी जीवन-युक्त या सजीव हैं। इस सन्दर्भ में आचारांग में स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि पृथ्वी, जल, वायु आदि के आश्रित होकर जो जीव रहते हैं, वे पृथ्वीकायिक, अप्कायिक आदि जीवों से भिन्न हैं।[5] यद्यपि पृथ्वीकायिक, अप्कायिक जीवों की हिंसा होने पर इनकी हिंसा भी अपरिहार्य रूप से होती है। आचारांग के प्रथम अध्ययन के द्वितीय से सप्तम उद्देशक तक प्रत्येक उद्देशक में पृथ्वी आदि षट्जीवनिकायों की हिंसा के स्वरूप, कारण और साधन अर्थात् शस्त्र की चर्चा हमें उपलब्ध होती है। आचारांग, ऋषिभासित, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि में षट्जीवनिकाय के अन्तर्गत पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस— ये जीवों के छः प्रकार माने गये हैं, किन्तु इन षट्जीवनिकायों में कौन त्रस है और कौन स्थावर है? इस प्रश्न को लेकर प्राचीनकाल से ही विभिन्न अवधारणाएं जैन परम्परा में उपलब्ध होती हैं। यद्यपि वर्तमान में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच को सामान्यतया स्थावर माना जाता है। पंचस्थावरों की यह अवधारणा अब सर्व स्वीकृत है। दिगम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ का जो पाठ प्रचलित है उसमें तो पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और वनस्पति— इन पाँचों को स्पष्ट रूप से स्थावर कहा गया है। किन्तु प्राचीन श्वेताम्बर मान्य आगम आचारांग, उत्तराध्ययन आदि की तथा तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बर सम्मत पाठ और तत्त्वार्थभाष्य की स्थिति कुछ भिन्न है। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में भी कुन्दकुन्द के ग्रन्थ पंचास्तिकाय की स्थिति भी पंचस्थावरों की प्रचलित सामान्य अवधारणा से कुछ भिन्न ही प्रतीत होती है। यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम की धवला टीका में इन दोनों के समन्वय का प्रयत्न हुआ है।

त्रस और स्थावर के वर्गीकरण को लेकर जैन परम्परा के इन प्राचीन स्तर के आगमिक ग्रन्थों में किस प्रकार का मतभेद रहा हुआ है, इसका स्पष्टीकरण करना ही प्रस्तुत निबन्ध का मुख्य उद्देश्य है।

१. आचारांग

आचारांग में षट्जीवनिकाय में कौन त्रस है और कौन स्थावर है? इसका कोई स्पष्टतः वर्गीकरण उल्लेखित नहीं है। उसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन में जिस क्रम से षट्जीवनिकाय का

विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसे देखकर लगता है कि ग्रन्थकार पृथ्वी, अप्, अग्नि और वनस्पति इन चार को स्पष्ट रूप से स्थावर के अन्तर्गत वर्गीकृत करता होगा, जबकि त्रस और वायुकायिक जीवों को वह स्थावर के अन्तर्गत नहीं मानता होगा, क्योंकि उसके प्रथम अध्ययन के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम इन चार उद्देशको में क्रमश: पृथ्वी, अप्, अग्नि और वनस्पति— इन चार जीवनिकायों की हिंसा का विवरण प्रस्तुत किया गया है। उसके पश्चात् षष्ठ अध्ययन में त्रसकाय की और सप्तम अध्ययन में वायुकायिक जीवों की हिंसा का उल्लेख किया है। इसका फलितार्थ यही है कि आचारांग के अनुसार वायुकायिक जीव स्थावर न होकर त्रस हैं। यदि आचारांगकार को वायुकायिक जीवों को स्थावर मानना होता तो वह उनका उल्लेख त्रसकाय के पूर्व करता। इस प्रकार आचारांग में पृथ्वी, अप्, अग्नि और वनस्पति -ये चार स्थावर और वायु काय तथा त्रसकाय -ये दो त्रस जीव माने गये हैं— ऐसा अनुमान किया जा सकता है।[६] यद्यपि आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में ही एक सन्दर्भ ऐसा भी है, जिसके आधार पर त्रसकाय को छोड़कर शेष पाँचों को स्थावर माना जा सकता है, क्योंकि वहाँ पर पृथ्वी, वायु, अप्, अग्नि और वनस्पति का उल्लेख करके उसके पश्चात् त्रस का उल्लेख किया गया है।[७]

२. ऋषिभाषित

जहाँ तक ऋषिभाषित का प्रश्न है, उसमें मात्र एक स्थल पर षट्जीवनिकाय का उल्लेख है। त्रस शब्द का उल्लेख भी है, किन्तु षट्जीवनिकाय में कौन त्रस है और कौन स्थावर है ऐसी चर्चा उसमें नहीं है।

३. उत्तराध्ययन

आचारांग से जब हम उत्तराध्ययन की ओर आते हैं तो यह पाते हैं कि उसके २६वें एवं ३६वें अध्यायों में षट्जीवनिकाय का उल्लेख उपलब्ध होता है। २६वें अध्याय में यद्यपि स्पष्ट रूप से त्रस और स्थावर के वर्गीकरण की चर्चा तो नहीं की गई है, किन्तु उसमें जिस क्रम से षट्जीवनिकायों के नामों का निरूपण हुआ है उससे यही फलित होता है कि पृथ्वी, अप् (उदक), अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँच स्थावर हैं और छठाँ त्रसकाय ही त्रस है[८], किन्तु उत्तराध्ययन के ३६वें अध्याय की स्थिति इससे भिन्न है, एक तो उसमें सर्वप्रथम षट्जीवनिकाय को त्रस और स्थावर— ऐसे दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया है और दूसरे स्थावर के अन्तर्गत पृथ्वी, अप् और वनस्पति को तथा त्रस के अन्तर्गत अग्नि, वायु और त्रसजीवनिकाय को रखा गया है।[९] इस प्रकार यद्यपि उत्तराध्ययन के ३६वें अध्याय से आचारांग की वायु को त्रसकायिक मानने की अवधारणा की पुष्टि होती है। किन्तु जहाँ तक अग्निकाय का प्रश्न है, उसे जहाँ आचारांग के अनुसार स्थावर निकाय के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सका है, वहाँ उत्तराध्ययन में उसे स्पष्ट रूप से त्रसनिकाय के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है। इस प्रकार दोनों में आंशिक मतभेद भी परिलक्षित होता है। उत्तराध्ययन का यह दृष्टिकोण तत्त्वार्थसूत्र (भाष्यमान्य मूलपाठ) में और तत्त्वार्थभाष्य में भी स्वीकृत किया गया है। इससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ परम्परा में प्राचीनकाल में यही दृष्टिकोण विशेष रूप से मान्य रहा होगा।

४. दशवैकालिक

जहाँ तक दशवैकालिक का प्रश्न है, उसका चतुर्थ अध्याय तो षट्जीवनिकाय के नाम से ही जाना जाता है। उसमें त्रस एवं स्थावर का स्पष्टतया वर्गीकरण तो नहीं किया गया है, किन्तु जिस क्रम में उनका प्रस्तुतिकरण हुआ है,[१०] उससे यह धारणा बनाई जा सकती है कि दशवैकालिक पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच को स्थावर ही मानता होगा। षट्जीवनिकाय के क्रम को लेकर दशवैकालिक की स्थिति उत्तराध्ययन के २६वें अध्ययन के समान है, किन्तु आचारांग से तथा उत्तराध्ययन के ३६वें अध्याय से भिन्न है।

५. जीवाभिगम

उपांग साहित्य में प्रज्ञापना में जीवों के प्रकारों की चर्चा ऐन्द्रिक आधारों पर की गई, त्रस और स्थावर के आधार पर नहीं। जीवों का त्रस और स्थावर का वर्गीकरण जीवाभिगमसूत्र में मिलता है। उसमें स्पष्ट रूप से पृथ्वी, अप् (जल) और वनस्पति को स्थावर तथा अग्नि, वायु एवं द्वीन्द्रियादि को त्रस कहा गया है। इस दृष्टि से जीवाभिगम और उत्तराध्ययन का दृष्टिकोण समान है। जीवाभिगम की टीका में मलयगिरि ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो सर्दी-गर्मी के कारण एक स्थान का त्याग करके दूसरे स्थान पर जाते हैं, वे त्रस है अथवा जो इच्छापूर्वक ऊर्ध्व, अध एवं तिर्यक् दिशा में गमन करते हैं, वे त्रस हैं। उन्होंने लब्धि से तेज (अग्नि) और वायु को स्थावर, किन्तु गति की अपेक्षा से त्रस कहा है।[११]

६. तत्त्वार्थसूत्र

जहाँ तक जैन परम्परा के महत्त्वपूर्ण सूत्र शैली के ग्रन्थ तत्त्वार्थ का प्रश्न है, उसके श्वेताम्बर सम्मत मूलपाठ में तथा तत्त्वार्थ के उमास्वाति के स्वोपज्ञ भाष्य में पृथ्वी, अप् और वनस्पति— इन तीन को स्थावरनिकाय में और शेष तीन अग्नि, वायु और द्वीन्द्रियादि को त्रसनिकाय में वर्गीकृत किया गया है।[१२] इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य का पाठ उत्तराध्ययन के ३६वें अध्याय के दृष्टिकोण के समान ही है। तत्त्वार्थ का यह दृष्टिकोण आचारांग के प्राचीनतम दृष्टिकोण से इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें अग्नि को स्पष्ट रूप से त्रस माना गया है, जब कि आचारांग के अनुसार उसे स्थावर वर्ग के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है।

अब हम दिगम्बर परम्परा की ओर मुड़ते हैं तो उसके द्वारा मान्य तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका के मूल पाठ[१३] और उसकी टीका— दोनों में पंचस्थावरों की अवधारणा का स्पष्ट उल्लेख है।

दिगम्बर परम्परा की तत्त्वार्थ की टीकाओं में प्राय: सभी ने पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु, वनस्पति इन पाँच को स्थावर माना है।

७. पंचास्तिकाय

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ पंचास्तिकाय और षट्खण्डागम की धवला का दृष्टिकोण सर्वार्थसिद्धि से भिन्न है। कुन्दकुन्द अपने ग्रन्थ पंचास्तिकाय में अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पृथ्वी, अप्, तेज (अग्नि), वायु और वनस्पति ये पाँच एकेन्द्रिय जीव हैं। इन एकेन्द्रिय जीवों में पृथ्वी, अप् (जल) और वनस्पति ये तीन स्थावर शरीर से युक्त हैं और शेष अनिल और अनल अर्थात् वायु और अग्नि है।[१४] इस प्रकार पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों में कुन्दकुन्द ने केवल पृथ्वी, अप् और वनस्पति इन तीन को ही स्थावर माना था, शेष को वे त्रस मानते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण भी तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बर मान्य पाठ, तत्त्वार्थभाष्य और प्राचीन आगम उत्तराध्ययन के समान ही है। यद्यपि गाथा क्रमांक ११० में उन्होंने पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और वनस्पति का जिस क्रम से विवरण दिया है वह त्रस और स्थावर जीवों की अपेक्षा से न होकर एकेन्द्रिय एवं द्वीन्द्रिय आदि के वर्गीकरण के आधार पर है। यह गाथा उत्तराध्ययनसूत्र के २६वें अध्याय की गाथा के समान है— तुलना के रूप में पंचास्तिकाय और उत्तराध्ययन की गाथायें प्रस्तुत हैं—

पुढवीआउक्काए, तेऊवाऊ वणस्सइतसाण।
पडिलेहणापमत्तो छण्हं पि विराहओ होइ।।
–उत्तराध्ययन, २६/३०

पुढवी य उदगमगणी वाउवणप्फदि जीवसंसिदाकाया।
देंति खलु मोह बहुलं फासं बहुगा वि ते तेसिं।।
–पंचास्तिकाय ११०

तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं।
पुढवी आउजीवा य, तहेव य वणस्सई।।
तेऊवाऊ य बोद्धव्वा उराला तसा तहा।
–उत्तराध्ययन, ३६/६८, ६९, १०७

ति थावरतणुजोगा अणिलाणल काइया य तेसु तसा।
मणपरिणाम विरहिदा जीवा एइंदिया णेया।।
–पंचास्तिकाय १११

षट्खण्डागम

दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम की धवला टीका में त्रस और स्थावर के वर्गीकरण की इस चर्चा को तीन स्थलों पर उठाया गया है— सर्वप्रथम सत्परूपणा अनुयोगद्वार (१/१/३९) की टीका में, उसके पश्चात् जीवस्थान प्रकृति समुत्तकीर्तन (१/९-१/२८) की टीका में तथा पंचम खण्ड के प्रकृति अनुयोगद्वार के नाम-कर्म की प्रकृतियों (५/५/१०) की चर्चा में इन तीनों ही स्थलों पर स्थावर और त्रस के वर्गीकरण का आधार गतिशीलता को न मानकर स्थावर नामकर्म एवं त्रस नामकर्म का उदय बताया गया है। इस सम्बन्ध में चर्चा प्रारम्भ करते हुए यह कहा गया है कि सामान्यतया स्थित रहना अर्थात् ठहरना ही जिनका स्वभाव है उन्हें ही स्थावर कहा जाता है, किन्तु प्रस्तुत आगम में इस व्याख्या के अनुसार स्थावरों का स्वरूप क्यों नहीं कहा गया? इसका समाधान देते हुए कहा गया है कि जो एक स्थान पर ही स्थित रहे वह स्थावर ऐसा लक्षण मानने पर वायुकायिक, अग्निकायिक और जलकायिक जीवों को जो सामान्यतया स्थावर माने जाते हैं, त्रस मानना होगा, क्योंकि इन जीवों की एक स्थान से दूसरे स्थान में गति देखी जाती है। धवलाकार एक स्थान पर अवस्थित रहे वह स्थावर, इस व्याख्या को इसलिए मान्य नहीं करता है, क्योंकि ऐसी व्याख्या में वायुकायिक, अग्निकायिक और जलकायिक जीवों को स्थावर नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनमें गतिशीलता देखी जाती है। इसी कठिनाई से बचने के लिए धवलाकार ने स्थावर की यह व्याख्या प्रस्तुत की कि जिन जीवों में स्थावर नामकर्म का उदय हे वे स्थावर हैं? न कि वे स्थावर है, जो एक स्थान पर अवस्थित रहते हैं।

इस प्रकार स्थावर की नई व्याख्या के द्वारा धवलाकार ने न केवल पृथ्वी, अप्, वायु, अग्नि और वनस्पति इन पाँचों को स्थावर मानने की सर्वसामान्य अवधारणा की पुष्टि की, अपितु उन अवधारणाओं का संकेत और खण्डन भी कर दिया जो गतिशीलता के कारण वायु, अग्नि आदि को स्थावर न मानकर त्रस मान रही थी। इस प्रकार उसने दोनों धारणाओं में समन्वय किया है।[१५]

त्रस स्थावर के वर्गीकरण के ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि सर्वप्रथम आचारांग में पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति इन चार को स्थावर और वायुकाय एवं त्रसकाय इन दो को त्रस माना गया होगा। उसके पश्चात् उत्तराध्ययन में पृथ्वी, जल और वनस्पति इन तीन को स्थावर और अग्नि, वायु और द्वीन्द्रियादि को त्रस माना गया है। अग्नि जो आचारांग में स्थावर वर्ग में थी, वह उत्तराध्ययन में त्रस वर्ग में मान ली गई। वायु में तो स्पष्ट रूप से गतिशलता थी, किन्तु अग्नि में गतिशीलता उतनी स्पष्ट नहीं थी। अत: आचारांग में मात्र वायु को ही त्रस (गतिशील) माना गया था। किन्तु अग्नि की ज्वलन प्रक्रिया में जो क्रमिक गति देखी जाती है, उसके आधार पर अग्नि को त्रस (गतिशील) मानने का विचार आया और उत्तराध्ययन में वायु के साथ-साथ अग्नि को भी त्रस माना गया। उत्तराध्ययन की अग्नि और वायु की त्रस मानने की अवधारणा की ही पुष्टि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्रमूल, उसके स्वोपज्ञ भाष्य तथा कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय में भी की गई है। दिगम्बर परम्परा की स्थावरों और त्रस के वर्गीकरण की अवधारणा से अलग हटकर कुन्दकुन्द द्वारा उत्तराध्ययन और तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बर पाठ की पुष्टि इस तथ्य को ही सिद्ध

करती है कि कुछ आगमिक मान्यताओं के सन्दर्भ में कुन्दकुन्द श्वेताम्बर परम्परा के उत्तराध्ययन आदि प्राचीन आगमों की मान्यताओं के अधिक निकट हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जहाँ एक ओर उत्तराध्ययन, उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र एवं कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय में स्पष्ट रूप से षट्जीवनिकाय में पृथ्वी, अप् (जल) और वनस्पति— ये तीन स्थावर और अग्नि, वायु और त्रस (द्वीन्द्रियादि)— ये तीन त्रस है, ऐसा स्पष्ट उल्लेख है। वहीं दूसरी और उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, उमास्वाति की प्रशमरति एवं कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय जैसे प्राचीन ग्रन्थों में भी कुछ स्थलों पर पृथ्वी, अप्, अग्नि, वायु और वनस्पति— इन एकेन्द्रिय जीवों के एक साथ उल्लेख के पश्चात् त्रस का उल्लेख मिलता है। उनका त्रस के पूर्व साथ-साथ उल्लेख ही आगे चलकर सभी एकेन्द्रियों को स्थावर मानने की अवधारणा का आधार बना है, क्योंकि द्वीन्द्रिय आदि के लिये तो स्पष्ट रूप से त्रस नाम प्रचलित था। जब द्वीन्द्रियादि त्रस कहे ही जाते थे तो उनके पूर्व उल्लेखित सभी एकेन्द्रिय स्थावर हैं— यह माना जाने लगा और फिर इनके स्थावर कहे जाने का आधार इनका अवस्थित रहने का स्वभाव नहीं मानकर स्थावर नामकर्म का उदय माना गया। किन्तु हमें यह स्मरण रखना होगा कि प्राचीन आगमों में इनका एक साथ उल्लेख इनके एकेन्द्रिय वर्ग के अन्तर्गत होने के कारण किया गया है, न कि स्थावर होने के कारण। प्राचीन आगमों में जहाँ पाँच एकेन्द्रिय जीवों का साथ-साथ उल्लेख है वहाँ उसे त्रस और स्थावर का वर्गीकरण नहीं कहा जा सकता है— अन्यथा एक ही आगम में अन्तर्विरोध मानना होगा, जो समुचित नहीं है। इस समस्या का मूल कारण यह था कि द्वीन्द्रियादि जीवों को त्रस नाम से अभिहित किया जाता था— अत: यह माना गया कि द्वीन्द्रियादि से भिन्न सभी एकेन्द्रिय स्थावर है। इस चर्चा के आधार पर इतना तो मानना ही होगा कि परवर्तीकाल में त्रस और स्थावर के वर्गीकरण की धारणा में परिवर्तन हुआ है तथा आगे चलकर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पंचस्थावर की अवधारणा दृढ़ीभूत हो गई। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जब वायु और अग्नि को त्रस माना जाता था, तब द्वीन्द्रियादि त्रस के लिये उदार (उराल) त्रस शब्द का प्रयोग होता था। पहले गतिशीलता की अपेक्षा से त्रस और स्थावर का वर्गीकरण होता था और उसमें वायु और अग्नि में गतिशीलता मानकर उन्हें त्रस माना जाता था। वायु की गतिशीलता स्पष्ट थी अत: सर्वप्रथम उसे त्रस कहा गया। बाद में सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात हुआ कि अग्नि भी ईंधन के सहारे धीरे-धीरे गति करती हुई फैलती जाती है, अत: उसे भी त्रस कहा गया। जल की गति केवल भूमि के ढलान के कारण होती है स्वत: नहीं, अत: उसे पृथ्वी एवं वनस्पति के समान स्थावर ही माना गया। किन्तु वायु और अग्नि में स्वत: गति होने से उन्हें त्रस माना गया। पुन: आगे चलकर जब द्वीन्द्रिय आदि को भी त्रस और सभी एकेन्द्रिय जीवों का स्थावर मान लिया गया तो— पूर्व आगमिक वचनों से संगति बैठाने का प्रश्न आया। अत: श्वेताम्बर परम्परा में लब्धि और गति के आधार पर यह संगति बैठाई गई और कहा गया कि लब्धि की अपेक्षा से तो वायु एवं अग्नि स्थावर है, किन्तु गति की अपेक्षा से उन्हें त्रस कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में धवला टीका में इसका समाधान यह कह कर किया गया कि वायु एवं अग्नि को स्थावर कहे जाने का आधार उनकी गतिशीलता न होकर उनका स्थावर नामकर्म का उदय है। दिगम्बर परम्परा में ही कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने यह समन्वय निश्चय और व्यवहार के आधार पर किया। वे लिखते हैं— पृथ्वी, अप् और वनस्पति— ये तीन स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर कहे जाते हैं, किन्तु वायु और अग्नि पंचस्थावर में वर्गीकृत किये जाते हुए भी चलन क्रिया दिखाई देने से व्यवहार से त्रस कहे जाते हैं।[१६]

इस प्रकार लब्धि और गतिशीलता, स्थावर नामकर्म के उदय या निश्चय और व्यवहार के आधार पर प्राचीन आगमिक वचनों और परवर्ती सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मानने की अवधारणा के मध्य समन्वय स्थापित किया गया।

सन्दर्भ

१. णेव सयं छज्जीवणिकाय सत्थं समारंभेज्जा— आयारो (लाडनूं) १/७/१७६.

२. छज्जीवणिकायसुद्धुनिरता— इसिभासियाइं, २५/२

३. छज्जीवकाये— उत्तराध्ययन, १२/४१

४. छण्हं जीवनिकायाणं— दशवैकालिक, ४/९

५. संति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अणेगा।
इहं च खलु भो अणगाराणं उदयजीवा वियाहिया। आयारो (लाडनूं), १/५४-५५

६. आयारो (लाडनूं), प्रथम अध्ययन, उद्देशक २-७

७. पुढविं च आउकायं तेउकायं च वाउकायं च।
पणगाइं बीय हरियाइं तसकायं च सव्वसो नच्चा।।
आयारो, ९/१/१२

८. पुढवी आउक्काए, तेऊवाऊवणस्सइतसाण।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहओ होइ।।

९. संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते वियाहिया।
तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं।।
पुढवी आउ जीवा य तहेव य वणस्सई।।
इच्चेए थावरा तिविहा तेसिं भेए सुणह मे।
तेऊवाऊ य बोद्धव्वा उराला य तसा तहा।
इच्चेए तसा तिविहा तेसिं भेए सुणह मे।।
— उत्तराध्ययन, ३६/६८, ६९ एवं १०७

१०. इमा खलु सा छज्जीवणिया णाम अज्झयणं... तंजहा १ पुढविकाइया, २ आउकाइया, ३ तेऊकाइया, ४ वाउकाइया, ५ वणस्सईकाइया, ६ तसकाइया।
— दशवैकालिक, ४/३

११ (अ) संसारिणस्त्रसस्थावरा:। पृथिव्यम्बुवनस्पतय: स्थावरा। तेजोवायुद्वीन्द्रियादयश्च त्रसा:। — तत्त्वार्थसूत्र (भाष्यमान्य पाठ) ९/१२-१४
(ब) पृथिव्यप्तेजावायुवनस्पतय: स्थावरा:। — वही, सर्वार्थसिद्धिमान्य पाठ ९/१२

१२. तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धि टीका ९/१२

१३. ति थावरतणुजोगा अपिलाणलकाइया य तेसु तसा।
मण परिणाम विरहिदा जीवा एइंदिया णेया।। —१११

१४ (अ) से किं थावरा?, तिविहा पन्न्त्ता, तंजहा-पुढविकाइया आउक्काइया वणस्सइकाइया।।
— जीवाभिगम प्रथम प्रतिपत्तिसूत्र १०
(ब) से किं तं तसा ? तिविहा पण्णत्ता, तंजहा - तेउक्काइया वाउक्काइया ओराला तसा पाणा।।
— वही, सूत्र २२
(स) गतित्रसेष्वन्तर्भावविवक्षणात, तेजोवायूनां लब्ध्या स्थावराणामपि सतां—टीका

१५ (अ). जस्स कम्मस्सुदएण जीवाणं संचरणासंचरणभावो होदि तं कम्मं तसणामं। जस्स कम्मस्सुदएण जीवाणं थावरत्तं होदि तं कम्मं थावरं णामं। आउ-तेउ-वाउकाइयाणं संचरणोवलंभादो ण तसत्तमत्थि, तेसिं गमणपरिणामस्स पारिणामियत्तादो।
— षट्खण्डागम ५/५/१०१, खण्ड ५, भाग १,२,३, पुस्तक १३, पृ. ३६५
(ब). जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं तसत्तं होदि, तस्स कम्मस्स तसेत्ति सण्णां, कारणे कज्जुवयारादो। जदि तसणामकममं ण होज्ज, तो *बीइंदियादीणमभावो* होज्ज। ण च एवं, तेसिमुबलंभा। जस्स कम्मस्स उदएण जीवों थावरत्तं पडिवज्जदि तम्स कम्मस्स थावरसण्णा।
— षट्खण्डागम १/९-१/२८, खण्ड १, भाग १, पुस्तक ६, पृ. ६१
(स). एते त्रसनामकर्मोदयवशवर्तित:। के पुन: स्थावरा: इति चेत्? एकेन्द्रिया: कथमनुक्तमवगम्यते चेत्परिशेषात स्थावरकर्मण: किं कार्यमिति चेदेकस्थानावस्थापकत्वम तेजोवाय्वप्कायिकानां चलनात्मकानां तथा सत्यस्थावरत्वं स्यादिति चेन्न, स्थास्नूनां प्रयोगतश्चलच्छिन्नपर्णानामिव गतिपर्यायपरिणतसमीरणाव्यतिरिक्तशरीरत्वतस्तेषां गमनाविरोधात
— षट्खण्डागम, धवलाटीका १/१/४४, पृ. २७७

१६. अथ व्यवहारेणाग्निवातकायिकानां त्रसत्वं दर्शयति— पृथिव्यब्वनस्पतयस्त्रय: स्थावरकायगोगात्सम्बन्धात्स्थावरा भण्यंते अनलानिलकायिका: तेषु पंच स्थावरेषु मध्ये चलन क्रियां दृष्ट्वा व्यवहारेण त्रसाभण्यंते।
— पंचास्तिकाय: जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति:, गाथा १११ की टीका

जैनदर्शन में पुद्गल और परमाणु

पुद्गल को भी अस्तिकाय द्रव्य माना गया है। यह मूर्त और अचेतन द्रव्य है। पुद्गल का लक्षण शब्द, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श आदि माना जाता है। इसके अतिरिक्त जैन आचार्यों ने हल्कापन, भारीपन, प्रकाश, अंधकार, छाया, आतप, शब्द, बन्ध-सामर्थ्य, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, संस्थान, भेद, आदि को भी पुद्गल का लक्षण माना है (उत्तराध्ययन २८/१२७ एवं तत्त्वार्थ ५/२३-२४)। जहाँ धर्म, अधर्म और आकाश एक द्रव्य माने गये हैं वहाँ पुद्गल अनेक द्रव्य है। जैन आचार्यों ने प्रत्येक परमाणु को एक स्वतन्त्र द्रव्य या इकाई माना है। वस्तुत: पुद्गल द्रव्य समस्त दृश्य जगत् का मूलभूत घटक हैं।

ज्ञातव्य है कि बौद्धदर्शन में और भगवती जैसे आगमों के प्राचीन अंशों में पुद्गल शब्द का प्रयोग जीव या चेतन तत्त्व के लिए भी हुआ है, किन्तु इसे पौद्गलिक शरीर की अपेक्षा से ही जानना चाहिए। यद्यपि बौद्ध परम्परा में तो पुद्गल-प्रज्ञप्ति (पुग्गल पञ्ञति) नामक एक ग्रन्थ ही है, जो जीव के प्रकारों आदि की चर्चा करता है। फिर भी जीवों के लिए पुद्गल शब्द का प्रयोग मुख्यत: शरीर की अपेक्षा से ही देखा जाता है। परवर्ती जैन दार्शनिकों ने तो पुद्गल शब्द का प्रयोग स्पष्टत: भौतिक तत्त्व के लिए ही किया है, और उसे ही दृश्य जगत् का कारण माना है। क्योंकि जैन दर्शन में पुद्गल ही ऐसा तत्त्व है, जिसे मूर्त या इन्द्रियों की अनुभूति का विषय कहा गया है। वस्तुत: पुद्धगल के उपरोक्त गुण ही उसे हमारी इन्द्रियों के अनुभूति का विषय बनाते है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है जैन दर्शन में प्राणीय शरीर यहाँ तक पृथ्वी, जल, अग्नि और वनस्पति का शरीर रूप दृश्य स्वरूप भी पुद्गल की ही निर्मिति है। विश्व में जो कुछ भी मूर्तिमान या इन्द्रिय-अनुभूति का विषय है, वह सब पुद्गल का खेल है। इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जहाँ जैन दर्शन में पृथ्वीं, जल, अग्नि और वायु- इन चारों को शरीर अपेक्षा पुद्गल रूप मानने के कारण इनमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण- ये चारों गुण माने गये है। जबकि वैशेषिक आदि दर्शन मात्र पृथ्वी को ही उपर्युक्त चारों गुणों से युक्त मानते हैं वे जल को गन्ध रहित त्रिगुण, तेज को गन्ध और रस रहित मात्र द्विगुण और वायु को मात्र एक स्पर्शगुण वाला मानते हैं। यहाँ एक विशेष तथ्य